

आज आपके सामने एक ऐसे विषय पर विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिसके द्वारा भारतवर्ष के एक बड़े बर्ग की पहचान होती है और जो अनादिकाल से मानवीय बटवारे का कारण बना है। इससे जहां सामाजिक प्रगति में सहायता मिली है, वहां परोक्ष रूप से जातिवाद को भी समर्थन मिला है। बहुत से विद्वानों ने इस विषय पर शोध-कार्य किया है, परंतु उनका अध्ययन अधिकतर जनजातियों तक ही सीमित रहा है। बहुत कम विद्वानों ने इस विषय को लेकर उत्तर भारत की परिगणित जातियों का अध्ययन किया है। इसलिए बहुत से विद्वानों ने यह निर्णय ले लिया है कि उत्तर भारत में अल्ल या टोटम होते ही नहीं। हमने खंडहरों का तो उत्खनन किया है परंतु जीवित समाधियों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, जिनकी संस्कृति और इतिहास पश्चिम से चलने वाली मानवीय आंधियों के रेत से दब गये।

आप यह पूछेंगे कि यह अल्ल क्या बला है? अल्ल को अंग्रेजी में 'टोटम' कहते हैं। अल्ल आदिम जातियों की पहचान होते हैं। इन्हें मैंने अपने पत्र में, 'अल्ल गोत्र' कहा है क्योंकि गोत्र या आर्ष गोत्र आर्यों की पहचान होते हैं। जिनके 'अल्ल गोत्र' या 'आर्ष गोत्र' नहीं होते, उनके कुल या उपजातियां होती हैं परन्तु साधारण बोलचाल में तीनों को गोत्र ही कहा जाता है। गोत्र ऋषियों के नाम पर आधारित होते हैं और 'अल्ल गोत्र', पशु, पेड़ों या अन्य वस्तुओं के नाम

## दलितों व शोषितों का पाक्षिक पत्र विज्ञापन के लिए केन्द्रीय सरकार व राज्यों द्वारा स्वीकृत



सम्पादक—डॉ० सोहनपाल सुमनाक्षर

□ वर्ष 56 □ अंक-11 □ दिल्ली □ मार्च, 2018 (प्रथम) □ मूल्य : 2 रु.

# गोत्र, कुल और अल्ल

पर आधारित होते हैं और कुल, खापों, पूर्वजों के नाम या निकास पर आधारित होते हैं।

गोत्र-विद्वानों ने गोत्र का अर्थ गायों का बाड़ा किया है जिसका दूसरा शब्द 'गोष्ठ' भी है। आटे के संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोष में एक दूसरी परिभाषा भी आई है—गो भूमि त्रायते, चै.क. अर्थात् वह जो पृथ्वी की रक्षा करे अर्थात् गण। मेरे विचार से 'गोत्र' का अर्थ गुरुपुत्र होना चाहिए क्योंकि गोत्र या गणगोत्र पशुपालक या बरबर आर्यों का वह जनसमूह था जो गायों के एक बाड़े में अपने पशुओं, बाल-बच्चों और गुरुओं के साथ रहते थे और सभी गुरु के पुत्र कहे जाते थे। वह गण या गणगोत्र उस गुरु का क्षेत्र कहा जाता था ओर

उसके सभी स्त्री-पुरुष उसके क्षेत्रीय अथवा यों समझो उसके खेत की खेती। गुरु का समस्त गण के स्त्री-पुरुषों पर एकाधिकार होता था जिस एकाधिकार के साझीदार जब क्षेत्रीय बने तो क्षेत्रीय ब्राह्मणों में वरीयता का झगड़ा प्रारंभ हो गया। आर्यों के ये बाड़े प्रस्थ या पड़ाव कहे जाते थे जो लकड़ी के लट्टों को गाड़कर बनाये जाते थे। महाभारत काल के इन्द्रवत् वारणावत्, बाघवत् (व्याघ्रवत्), सोनीपत्, पानीपत् आदि स्थान उन पड़ावों की निशानियां हैं। संभव है यह शब्द 'द्रविड़' शब्द पत्त-पत्तनम् का आर्यकरण हों। इन पड़ावों की बागडोर एक आर्य कबीले या गण के हाथ में होती थी, इसलिए भी इनका नाम गोत्र हो सकता है।

—चौ. इन्द्रराज सिंह

उस गण में रहने वाले सभी लोग सगोत्री कहे जाते थे। यह ब्राह्मण गोत्र प्रथा का मूल रूप था।

अब हम उस 'गोत्र प्रथा' को लेते हैं जिसकी सर्वसाधारण में मान्यता है, यह गोत्र प्रथा समस्त भारत में प्रचलित है, और इसके साथ वहिर्विवाह की प्रथा जुड़ी हुई है अर्थात् गोत्र वह है जिसके साथ वैवाहिक संबन्ध नहीं जोड़े जा सकते। वैवाहिक संबन्ध जोड़ने में और भी कुछ प्रतिबंध होते हैं। गोत्र में एक ही वंश परंपरा के लोग होते हैं या वे लोग होते हैं जो किसी काल्पनिक पूर्वपुरुष, गुरु या देवता से संबंधित

हैं।

गोत्र तीन प्रकार के होते हैं—1. एक वे जो नौ प्रमुख आर्य परिवारों से सम्बन्धित हैं और जिनके नाम आर्य ऋषियों के नाम पर पाये जाते हैं, इन्हें 'आर्ष गोत्र' कहा गया है। 2. दूसरे वे गोत्र हैं जो पेड़-पौधों, पशु या अन्य निर्जीव वस्तुओं के नाम पर होते हैं। इन वस्तुओं आदि को 'अल्ल' कहा जाता है इसलिए मैंने इन्हें 'अल्ल गोत्र' नाम दिया है। पहले गोत्र आर्यों या उनसे प्रभावित जातियों में पाये जाते हैं जिनका आर्यकरण हुआ है और दूसरे अधिकतर आदिम जातियों में पाये जाते हैं या उन जातियों में पाये जाते हैं जिनको मैंने पीछे जीवित समाधियां कहा है, जो आज की परिगणित जातियां हैं। ये उच्च जातियों में भी पाये जाते हैं, जिनका आर्यकरण हुआ है यह और जिनका उद्गम आर्य पूर्व जन जातियों या असुरों आदि अनार्य जातियों से है।

इनकी पहचान यह है कि इन जातियों के 'अल्ल गोत्र' और 'आर्ष-गोत्र' दोनों साथ पाये जाते हैं। अल्ल गोत्रों को केवल अल्लों के किसी स्थानीय नाम से पुकारा जाता है, परंतु गोत्रों को केवल गोत्र ही पुकारा जाता है जो केवल ऋषियों के नाम पर ही होते हैं। मरहटे इस वर्ग में आते हैं जिनके गोत्र ऋषियों के नाम पर और 'अल्ल' अधिकतर पेड़ों के नाम पर होते हैं जिन्हें ये 'देवक' कहते हैं। इन्हीं देवकों को कुनबी या कुर्मि गोत्र के रूप में मानते हैं क्योंकि मरहटे

(शेष पृष्ठ 4 पर)

## इधर उधर की बात ना कर,

### यह बता कि कारवां कैसे लुटा?

अब से लगभग एक हजार साल पहले हिन्दुस्तान पर मोहम्मद गजनी ने हमला किया और अपनी घुड़सवार सेना की अगुवाई करते हुए गुजरात में सोमनाथ मन्दिर तक पहुंच गया और शिवमूर्ति को धराशायी कर अरबों खराबों का सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात, ऊंट, घोड़ों, खच्चरों पर भरकर वापिस अपने देश गजनी पहुंच गया। इतिहासकारों का कहना है कि लौटते हुए वह अपने साथ यहां से युवा युवतियों को भी बन्दी बनाकर ले गया, जिन्हें उसने गजनी की मंडी में 'गुलाम' बनाकर बेच दिया।

वह निर्विरोध, निरबाधा अपने देश से चलकर भारत में भी सैकड़ों मील चलकर सीधा गुजरात के सोमनाथ मंदिर कैसे पहुंच गया और आते-जाते उसका मार्गदर्शन किसने किया, विचारणीय प्रश्न है जिस पर गौर किया जाना चाहिए।

भारत में मनुस्मृति की वर्ण-व्यवस्था और उससे उपजी जात-पांत भारतीय समाज की आधारशिला रही है। इस आधार पर समाज वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के चार वर्णों में विभाजित रहा। सबके अपने-अपने काम यानी पेशे बंटे हुए थे। वर्ण-व्यवस्था के नियमानुसार कोई अपना पेशा छोड़कर दूसरे का पेशा नहीं अपना सकता था। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ण को शिक्षा-दीक्षा-पढ़ना पढ़ाना और वर्ण-व्यवस्था पर दृढ़ता से अमल

कराना था। देश की सुरक्षा-शासन प्रशासन संचालन का कार्यभार क्षत्रिय वर्ण पर था। वणज यानी खेती-बाड़ी, व्यापार, देश में राजकोष में धन-दौलत जुटाने का काम वैश्य वर्ण का था। वर्ण-व्यवस्था के सबसे नीचे के पायदान शूद्र वर्ण पर उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। उसके कोई अधिकार नहीं था, जीवन यापन के लिए भी वह पूरी तरह से अपने उच्चवर्णीय स्वामी पर आधारीत था। चारों वर्णों के दिलो-दिमाग में मनुस्मृति ने कूट-कूट करके यह धारणा भर दी थी कि वे न तो अपना वर्ण बदल सकते हैं, न अपना पेशा, यानी उन्हें जो काम वर्ण व्यवस्था ने सौंपे हैं, उसी का उन्हें दृढ़ता से पालन करना है, यही उनका धर्म है, कर्तव्य है जो मनु भगवान ने उनके लिए निर्धारित किया है।

मनुस्मृति की इसी वर्ण व्यवस्था के कारण जब मोहम्मद गजनी हिन्दुस्तान में घुसकर अपने 700 सौ घुड़सवारों की सेना के साथ आगे बढ़ रहा था तो उसे रोकने के लिए कोई आगे नहीं आया। ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र वर्ण अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। ब्राह्मण पुरोहित मंदिरों में पूजा पाठ में लगे थे, वहीं वैश्य वर्ण अपने खेती-बाड़ी और व्यापार करने में लीन था। गुलाम शूद्र वर्ण उन सभी की सेवा व तिमरदारी में लगे थे। ये सब अपने-

अपने कामों में तल्लीन होकर सोच रहे थे कि विदेशियों से देश की रक्षा करने का काम क्षत्रियों का है। उन्हें ही विदेशी हमलावरों से युद्ध करके देश को बचाने की जिम्मेदारी है। उधर क्षत्रिय राजा-महाराजा अपने रनवासों व महलों में रानी-महारानियों के साथ रंग-रंगेलियां मानने में व्यस्त थे। ऐसे में विदेशी हमलावरों के देश में आ धमकने की सूचना होने पर भी वे कहते थे कि 'अभी दिल्ली दूर है', हमारे महलों तक आने दो, फिर देख लेंगे। उनकी इसी अय्यासी सोच के कारण ईरान-अफगानिस्तान से मोहम्मद गजनी व मोहम्मद गोरी ने भारत पर न केवल आक्रमण किया, बल्कि वे देश की अपार धन-दौलत लेकर बड़ी आसानी से अपने देश लौट गये। इसके बाद दिल्ली की गद्दी पर उनके गुलाम कुतबुद्दीन ऐबक, अलाउद्दीन खिलजी, सिकन्दर लोदी की बादशाहत रही। उसके बाद विदेशी बादशाह बाबर, अकबर, हुमायूं, औरंगजेब की हुकूमत रही। इन बादशाहों के बाद अंग्रेजों की डेढ़ दो सौ सालों तक भारत में हुकूमत रही। देश को इस तरह सैकड़ों सालों तक गुलाम बनाने के पीछे मनुस्मृति आधारित वर्ण व्यवस्था ही रही है। इसके अन्तर्गत देश के ब्राह्मण वर्ण ने

( शेष पृष्ठ 4 पर )

## भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन

विश्व धरातल पर दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अंधा समाज और बहरे लोग	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
सिन्धु घाटी बोल उठी	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
अब नहीं रहेंगे हाशिये पर	डॉ. सुमनाक्षर	80/-
अम्बेडकर शतक	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
विश्व विभूति डा. अम्बेडकर	डॉ. सुमनाक्षर	50/-
दलित लेखक परिचय ग्रंथ (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	250/-
बुद्धा दू अम्बेडकर (अंग्रेजी)	डॉ. सुमनाक्षर	150/-
दलित साहित्य	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
अम्बेडकर दर्शन	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
हमारे संत और समाज सुधारक	डॉ. सुमनाक्षर	60/-
धर्म और समाज	डॉ. सुमनाक्षर	40/-
आदिम जाति चमारा	डॉ. सुमनाक्षर	300/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
दलित उद्घोष	डा. सुमनाक्षर	80/-
दलित साहित्य की हुंकार-सात सम्बन्ध पर	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
युगपुरुष बाबू जगजीवनराम	डॉ. सुमनाक्षर	200/-
प्राचीन आदिम जाति वाल्मीकि	डॉ. सुमनाक्षर	100/-
(इतिहास, धर्म, संस्कृति)		
सभ्यता, संस्कृति, समाज और साहित्य	आचार्य गुरुप्रसाद	100/-
डा. अम्बेडकर भजनावली	राजमल 'राज'	25/-
हमारे दलित गौरव	राजमल 'राज'	25/-
भारत रत्न डा. बी.आर. अम्बेडकर	राजमल 'राज'	25/-
मूल भारती से दलित	राजमल 'राज'	50/-
अम्बेडकरवाद बनाम सामाजिक परिवर्तन	राजमल 'राज'	80/-
दलित साहित्य-दशा और दिशा	डा. माता प्रसाद	200/-
दलित साहित्य से सामाजिक परिवर्तन	डा. माता प्रसाद	100/-
भारत की गुलामी के 22 सौ साल	प्रदीप कुमार मौर्य	250/-
सृजन के कण	जीपी पचौरिया 'दीप'	150/-
बौद्ध धर्म-गया से अयोध्या तक	प्रदीप कुमार मौर्य	120/-
गांधी, अम्बेडकर और दलित	प्रदीप कुमार मौर्य	100/-
सत्सम दर्शन	राजमल 'राज'	100/-
जागा मेहनतकश इंसान	राजमल 'राज'	50/-
हम एक हैं	डा. माता प्रसाद	60/-
रैदास से संत शिरोमणि गुरु रविदास	डा. माता प्रसाद	50/-
ताकि सन्द रहे	डा. सुमनाक्षर	100/-

पुस्तक मंगाने के लिए मनीआर्डर से राशि अग्रिम भेजें, व्यवस्थापक,

## दलित साहित्य सेन्टर

(भारतीय दलित साहित्य अकादमी)

बी-3/9, दूसरी मंजिल, माडल टाउन-1, दिल्ली-9

फोन : 27421449, 27421460, मो. 9810278936



# लोकतंत्र के बिना सशक्त नहीं हो सकता दलित आंदोलन

सर्वप्रथम दलित आंदोलन की पृष्ठभूमि को समझना होगा। एक समय में दलित उत्पीड़ित व्यक्ति के लिए इस्तेमाल होता था और डा. अम्बेडकर ने इस शब्द का प्रयोग भी कभी नहीं किया, परंतु आज दलित बहुत बड़े समुदाय के आत्मस्वामिमान का प्रतीक है। आज दलित विश्वास और विद्रोह का प्रतीक है। यह विद्रोह किसी राजनैतिक दल से नहीं, अपितु संपूर्ण सड़ी-गली व्यवस्था से है जिसने उसे उत्पीड़ित किया। विद्रोह की पृष्ठभूमि में वे सारे लोग व आंदोलन हैं जो बुद्ध से शुरू हुए और जिसे बाबा साहब अंबेडकर ने परवान चढ़ाया। जिसे ज्योतिबा फुले और रामास्वामी नायकर ने अपने दबे कुचले लोगों में आत्म सम्मान के लिए बढ़ाया। यह विद्रोह जो आज दलित पैंथर और ऐसे लाखों गुमनाम और सशक्त आंदोलनों में है, जो देश के विभिन्न भागों के दलित संगठन चलाये हुए हैं।

क्या थी वो व्यवस्था व विद्रोह? हिंदू धर्मशास्त्रों, स्मृतियों ने दलितों के उत्पीड़न को सही ठहराया। कवियों और महाकवियों के मुंह से उन्हें 'राक्षस' बनाकर गाली दिलवाई, शास्त्र पढ़ने और सुनने से उनको रोका, व्यवस्था

वर्णव्यवस्था को मजबूत किया है। ढोंगी धर्मनिरपेक्षता ने भी हिंदुत्व के सेक्यूलर भाइयों को भी मजबूत किया, और पचास वर्षों के मुस्लिम नेतृत्व ने अपने आप को इस पाखंडी धर्मनिरपेक्षता से जोड़ कर मुस्लिम उत्पीड़ित तबकों के सवाल को हाशिये पर डाल दिया। सवाल इस बात का है कि मुसलमानों के धर्मनिरपेक्षता प्लेटफार्म की सुपर स्टार यदि शंकराचार्य या तथाकथित धर्मगुरु ही रहेंगे तो दलितों के साथ एकता की बात कैसे हो सकती है? जिन शक्तियों के विरुद्ध दलितों का जीवन भर संघर्ष रहा, जो उनके शोषण को धार्मिक जामा पहनाये, उनके साथ दलित 'सेक्युलरवाद' के नाम पर कैसे जा सकते हैं? आखिर मुस्लिम राजनीति इस ब्राह्मण सेक्युलरवाद के पीछे क्यों भाग रही है, तो इस सवाल के जवाब के लिए हमें विभाजन की त्रासदी को देखना पड़ेगा। संघ के ब्राह्मण संत मुसलमानों पर यह आरोप लगते हैं कि उन्होंने देश का विभाजन कराया, पाकिस्तान के सामंती मुसलमान वहां के हिंदू अल्पसंख्यकों का इसलिए शोषण करते हैं क्योंकि उनके हिंदू भाईयों ने विभाजन के दौरान मुसलमानों को मारा, लेकिन कोई यह नहीं कहता

## ● विद्या भूषण रावत

अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते कि हमारे धर्म में इसकी अनुमति नहीं है। सवाल यह है कि अगर इस्लाम या ईसाईयत जाति को नहीं मानती तो फिर यह वहां क्यों है, तो जवाब मिलता है ब्राह्मणों ने इनके धर्म में डंक मार दिया है, मानो सऊदी अरब के मुल्लाओं और तालिबान के बेशर्म पिप्लों को भी, जिन्होंने बामियान में बुद्ध प्रतिमा को नष्ट किया, को भी ब्राह्मणों ने डंक मार के डसा हो। मुसलमान और ईसाई समुदाय यह नहीं भुला सकते कि दलितों के आरक्षण के सवाल पर सेंट स्टीफेंस कालेज और जामिया मिलिया, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और अन्य अल्पसंख्यक संस्थान विरोध में खड़े हुए। सेंट स्टीफेंस ने तो यू.जी. सी. के आदेश को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दे डाली, अरूण शौरी और चंदन मित्रा जैसे लोगों के सेंट स्टीफेंस से और उम्मीद भी क्या की जा सकती है? ईसाईयों के हाथों में देश की सर्वश्रेष्ठ शिक्षण संस्थाएँ हैं, जरा वे बतायें कि उन्होंने इनसे कितने दलित निकाले।

आज के भारतीय लोकतंत्र में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक कठमुल्लाओं के शरणस्थली बन गया है जो अपने-अपने

मुस्लिम दलित समाज से रिश्ता रखता है और परिवर्तन चाहता है लेकिन उसके कठमुल्ले नेता धर्म के नाम पर उसका मानसिक और शारीरिक शोषण करते हैं। दलित मुस्लिम की एकता नहीं दलित एकता की बात करनी होगी और सारे समुदायों से दलित उत्पीड़ित तबकों को निकालकर उनके एक संगठन की बात करनी होगी अन्यथा सेक्युलरवाद का यह ड्रामा उन्हें कहीं का नहीं छोड़ेगा। आखिर दलित कैसे अपने आप को उन मुसलमानों या ईसाईयों से जोड़ सकता है जो अपने समाज के अंदर उत्पीड़न कर चुप रहता हो क्या यह संभव है कि हम अप्रगतिशील कठमुल्लावादी ताकतों से समझौता करे केवल एक वोट के खातिर तो फिर, हिंदू कठमुल्लाओं के मायावती को समर्थन देने से हमें परहेज क्यों?

लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों और हाशिए पर रह समुदायों के लिए शिक्षा और रोजगार में विशेष अवसर प्रदान किए जाते हैं और ये विशेष रियायतें कोई भीख नहीं, अपितु अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के लिहाज से है क्योंकि हमारे देश में राजनैतिक

आदर्श रामराज्य में दलित कहां थे, या एक श्लोक पढ़कर ही मौत का शिकार बन गये।

महिलाओं की स्थिति तो जग जाहिर है। आज का जो सशक्त यूरोप है वह ईसाईयत से नहीं अपितु अधर्मवाद, भौतिकवाद पर चलकर सशक्त हुआ है जहां मानवीय संवेदना पर लोग विरोध में सड़क पर आते हैं। लोकतंत्र में यही मानवीय संवेदनायें उसे मजबूत करती है।

हजारों लोगों के मरने पर हमारी संवेदनायें कभी नहीं खड़ी होती परंतु 'भगवान' के नाम पर हमारे खून-खराबे हो जाते हैं। लोकतंत्र के इस युग में रामतंत्र या ईशतंत्र या अल्लाहतंत्र के लिए कोई जगह नहीं। यहां तो लोग ही शासन करेंगे और उन्हीं को मानवीय और साहिष्णु बनना है। कम से कम दलित, जो कि व्यवस्था से लड़ने वाली और पूछने वाली उस ताकत का नाम है, जो इस भगवानवादी व्यवस्था को चुनौती दे रहा है, उसके लिए लोकतंत्र के अलावा और कोई रास्ता नहीं। भगवान के लोग उसे कमजोर ही बनायेंगे ताकत नहीं दे पायेंगे। उसकी ताकत लोकतंत्र को शक्तिशाली बनाने में ही है। •

के सभी घुणित और कठिनतम काम उनको दे दिए, उनको शिक्षा से वंचित कर उनका दिमाग नियंत्रित कर दिया। हिंदू आदर्श देवताओं ने दलितों को पिटवाया और अपमानित करवाया।

दलित आंदोलन इस सारे उत्पीड़न से फायदे में रहा, क्योंकि बाबा साहब से लेकर पेरियार और फुले तक, सभी ने ब्राह्मणवादी धर्मग्रंथों की कुटिलताओं को पहचान लिया और उस पर चलने से इंकार कर दिया। डा. अंबेडकर ने मनुस्मृति का दहन कर धर्म और धर्म ग्रंथों की 'पवित्रता' को उसकी औकात बता दी। ऐसे धर्म ग्रंथों पर जूता ही चलना चाहिए, जो उत्पीड़न का प्रतीक है। इस प्रकार वृहत्तर दलित आंदोलन धर्म के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक बन गया। बाबा साहब ने 1935 में ही कह दिया था कि "मैं पैदा अवश्य हिंदू हुआ हूँ परंतु मरूंगा एक गैर हिंदू बनकर"। बौद्ध बनने से पूर्व डा. अंबेडकर के समक्ष बहुत से सवाल थे, परंतु वह यह भी जानते थे कि बुद्ध एक तर्कवादी थे और धर्मों की भूल-भूलैया में उनके जैसा तार्किक व्यक्ति रह नहीं सकता, और यही कारण है कि बाबा साहब का बुद्ध दर्शन दलाई लामा के बौद्ध दर्शन से बहुत भिन्न है।

जब दलित आंदोलन व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई लड़ रहा हो, तो वह यथास्थितिवादियों से कैसे समझौता कर सकता है? मतलब यह कि इस देश में हिंदूवाद ने तो ब्राह्मणीय

कि भारत का विभाजन कोई धार्मिक प्रश्न नहीं था। मोहम्मद अली जिन्ना यह कह चुके थे कि हिंदू-मुसलमान की समस्या एक राजनैतिक समस्या है, धार्मिक नहीं। यदि विभाजन के दौरान पार्टियों का नेतृत्व देखें तो मुस्लिम लीग, मुसलमानों के जमींदारों के हितों की रक्षा के लिए थी और कांग्रेस हिंदू जमींदारों, राजाओं के अनुसार चल रही थी। भारत का विभाजन हिंदू सवर्णों और मुस्लिम सवर्णों की आपसी चाल थी। यदि इस्लाम एकजुटता का प्रतीक है तो फिर पाकिस्तान के शाही मुसलमानों ने शेख मुजीबुर्रहमान को जीतने के बावजूद प्रधानमंत्री बनने से क्यों रोक दिया? इसका जवाब मेरे इन बोलने वाले भाईयों का अच्छा नहीं लगेगा, परंतु वह केवल इतना है कि मुस्लिम समाज में व्याप्त सामंतशाली ने बंगाली बोलने वाले दलित मुसलमानों को केवल झाड़ू-पोंछा लगाने वाला ही समझा। अतः जब भी हम हिंदू सांप्रदायिकता के मुकाबले की बात करते हैं, तो पहचान के नाम पर मुसलमानों का सामंती नेतृत्व सामने खड़ा हो जाता है और समाज में किसी भी बदलाव को हिंदूकरण मानकर रोक देता है।

आज मुसलमानों या ईसाइयों में जो जातिगत मतभेद हैं; धर्म की बेड़ी बांधकर उन्हें भुलाने की कोशिश की जाती है। केवल यह कहकर हम

धर्म के ठेकेदार बनकर एक सुन्दर भारत की कल्पना करते हैं जहां कोई भी व्यक्ति यह कहने का स्वतंत्र नहीं किया। इन बेशर्म भगवानों और उनके अश्लील स्वयंसेवकों ने हमारा बेड़ा गर्क किया है। यह कैसा लोकतंत्र है जहां शोषण का आधार हमारी धर्मनिरपेक्षता का प्रतीक बन जाये और धर्मों और उनके आचार्यों पर सवाल उठाने से पहले दस बार सोचना पड़े।

आज दलित अस्मिता के इस दौर में वो ही शक्तियां सत्ता पे काबिज होगी जो उनकी बात करेंगी, हालांकि दलित आंदोलन एक गतिशील आंदोलन है। जो सत्ता से दूर, समाज को बदलने की लड़ाई है। सेक्युलरवाद के मायने बदलने होंगे, सांस्कृतिक बहुलतावाद के नाम पर हम दकियानूसी परंपराओं को सही नहीं ठहरा सकते। अगर हमारा आदर्श इस्लामी राष्ट्रवाद है या इस्लामी हुकूमत है तो क्या वाकई हम हिंदू राष्ट्र की मान्यता से इंकार कर सकते हैं? जब लोकतंत्र और सेक्युलरवाद हमारी सैद्धांतिक निष्ठा नहीं, केवल नीति है ताकि हमारा धार्मिक एजेण्डा चलता रहे, तो ऐसी स्थिति में वे ही शक्तियां मजबूत होगी जो सत्तारूढ़ है। लोकतांत्रिक समाज के मायने हैं, धर्म ग्रंथों और उनके कायदे कानूनों को चुनौती देने की आजादी, क्या हमारे मित्र ऐसा कर पाये हैं? क्या वो अपने समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। 90 प्रतिशत

लोकतंत्र की जड़ें तो निस्संदेह गहरी हो गयी परंतु सामाजिक लोकतंत्र अभी भी बहुत दूर है। अतः इन सवालों पर सांप्रदायिक लोग 'तुष्टीकरण' का लेबल चिपका देते हैं। हमें यह भी देखना होगा कि जो देश आज सशक्त है वहां लोकतंत्र और व्यक्तिगत आजादी के मुद्दे बहुत अहम् हैं। अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैंड, कनाडा, इटली सभी स्थानों में आज लोकतंत्र की जड़ें मजबूत हैं, और यही कारण है कि वहां के लोग अपनी सरकारों के विरुद्ध खड़े होते हैं।

भारत में लोकतंत्र और अल्पसंख्यकों का सवाल कानून से भी आगे, लोकतंत्र एक मानसिकता है, जहां वैयक्तिक स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है चाहे वो विचार मुझे खराब ही क्यों न लगे। एक और बात महत्वपूर्ण है, पूरे दक्षिण एशिया में कोई समुदाय एक देश में अल्पसंख्यक है, तो दूसरे देश में बहुसंख्यक और हमारी समस्याएँ एक दूसरे से जुड़ी हैं, अतः कोई समुदाय कितना सम्य और लोकतांत्रिक है, यह तब पता चलेगा जब वह बहुसंख्यक हो और सत्ता में हो। क्या कोई धार्मिक व्यक्ति लोकतांत्रिक हो सकता है? जवाब बिल्कुल 'ना' में होगा, मुसलमानों के गणराज्य में इस्लामिक कानून है और वहां अल्पसंख्यकों और महिलाओं की हालत क्या है, इसे लिखने की आवश्यकता नहीं है। हिंदुत्व के क्रांतिकारियों के राज्य में या उनके

## बहिष्कार करो - बहिष्कार करो

बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।  
हर अवैज्ञानिक बातों का,  
हर अवैज्ञानिक विचारों का,  
हर अवैज्ञानिक व्यवहारों का,  
हर अवैज्ञानिक त्यौहारों का।  
बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।

मानव-मानव में फूट डालते  
हर ग्रंथों और किताबों का,  
जाविदी और ब्राह्मणवादी  
हर अवैज्ञानिक संस्कारों का।  
बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।

झूठी, पाखंडी हर प्रथाओं का,  
अंधविश्वासी पूर्ण आस्थाओं का,  
काल्पनिक देवता, भगवानों का,  
'मनु धर्म' के ठेकेदारों का।  
बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।

'श्रम संस्कृति' को नीच कहने वाले  
बेशरम धूर्त प्रवचन कारों को,  
हर शोषण का, अत्याचारों का,  
अन्याय के हर हथियारों का।  
बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।

मानवता द्रोही पत्रकारों का,  
स्वानुभूति बिन साहित्यकारों का,  
शूद्रों को चुसते नेताओं का,  
घोटालेबाज हर गद्दारा का।  
बहिष्कार करो, बहिष्कार करो।

— भरत सिंह 'बेचैन'

हिंदी साहित्य का वर्तमान परिदृश्य इन दिनों जितना बहस-मुबाहिसों से रिक्त और हलचल विहीन है, उतना इसके पूर्व संभवतः कभी नहीं था। स्वाधीनता पूर्व के वर्षों में छायावाद बनाम प्रगतिवाद से लेकर 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' की बहसों ने हिंदी साहित्य को वैश्विक संदर्भों से जोड़ कर नया आयाम दिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक प्रभाव के चलते जहां अस्तित्ववाद और आधुनिकता की बहसों तेज हुईं, वहीं मार्क्सवादी प्रभावों के चलते साहित्य में प्रगतिशील और प्रतिबद्धता भी नई साहित्यिक चेतना के संवाहक हुए। साठ के दशक में इलाहाबाद में परिमल और प्रगतिशील लेखक संघ के बीच वाद-विवाद और टकराहट के स्रोत भी इसी वैचारिकता के परिणाम थे। थोड़े बाद के वर्षों में नई कहानी, अकहानी, श्मशानी पीढ़ी, समांतर कहानी नई कविता, अकविता सरीखे आंदोलनों ने भी अपने समय में एक हलचल पैदा की थी। सत्ता बनाम साहित्य, सेठाश्रय बनाम राज्याश्रय, व्यावसायिक बनाम लघु पत्रिका की बहसों ने भी पर्याप्त उत्तेजना का वातावरण उस दौर में सृजित किया था। भारत भवन की गतिविधियां ने भी अस्सी के दशक में साहित्यिक खेमेबंदी को वैचारिक संदर्भ प्रदान किए थे। लेकिन आज हिंदी साहित्य में न किसी साहित्यिक प्रवृत्ति या मुद्दे को लेकर गरमाहट है और न ही कोई आंदोलन।

## बैठे ठाले की शगल

• वीरेंद्र यादव

हाल के वर्षों में जिन कुछ मुद्दों को लेकर विवाद और विरोध का वातावरण बना भी वे व्यक्तिगत आचरण और तात्कालिक उत्तेजना के अधिक रहे, वैचारिक और दीर्घकालिक महत्त्व के कम। यहां तक कि असहिष्णता के विरुद्ध पुरस्कार वापसी की मुहिम भी हिंदी साहित्य समाज को पर्याप्त रूप से वैचारिक एक जुटता प्रदान करने में विफल रही। दलित और स्त्री विमर्श भी एक धरातल पा लेने के बाद हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में जैसे ठहर से गए हैं। हालांकि इस बीच समाज के मुद्दों को नया विस्तार दिया है, लेकिन चिंता की बात है कि ज्यों ज्यों दलित लेखकों ने 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति' की बहस तेज करते हुए अपने लेखक को आक्रामण तैवरों से युक्त किया है, त्यों त्यों मुख्यधारा के गैर-दलित लेखकों द्वारा दलित मुद्दों पर लेखन का सिलसिला क्षीण होता जा रहा है। यह अनायास नहीं है कि विगत दो दशकों में गैर-दलित लेखकों द्वारा इक्का-दुक्का अपवाद को छोड़ कर न तो 'हरिजन गाथा' और 'सिर पर मैला ढाती औरतें' सरीखी कविताएं लिखी गईं और न 'धरती धन न अपना', 'महाभोज', 'परिशिष्ट' और 'मोरी की ईंट, सरीखे दलित केंद्रित मुकम्मल उपन्यास ही।

यह आशंका निर्मूल नहीं है कि प्रगतिशील आंदोलन ने वर्ग और जाति

से मुक्त होकर लेखन की जिस प्रगतिशील परंपरा का सूत्रपात किया था, कहीं यह उसकी वापसी का दौर तो नहीं है! कहीं ऐसा तो नहीं कि मुख्यधारा के लेख 'डि-कास्ट' और 'डि-क्लास' होने के बजाय अपनी जाति और वर्ग में वापस लौटने की प्रक्रिया में हैं। यह शंका इसलिए भी निर्मूल नहीं लगती, क्योंकि लक्ष्मणपुर बाथे, ऊना, सहारनपुर, कोरेगांव, खैरलांजी और मिर्चपुर के इस दौर में हिंदी की मुख्यधारा के लेखकों द्वारा सांप्रदायिकता के विरोध में तो विपुल लेखन किया गया, लेकिन दलितों और आदिवासियों पर अत्याचार और प्रतिरोध के सामाजिक संदर्भ प्रायः नेपथ्य में ही रहे हैं। यह इसलिए भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि अन्य भारतीय भाषाओं, यहां तक कि अंग्रेजी में भी दलित मुद्दा रचनात्मक केंद्रीयता के साथ-साथ विमर्शकारी है। अरुंधति राय का तो यह तक कहना है कि भारतीय साहित्य में जाति शोषण के यथार्थ से विमुख होना उसी तरह का अंधत्व है जैसा दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए नस्लवाद का नकार।

दरअसल, सच यह भी है कि हिंदी साहित्य में सांप्रदायिकता विरोध को लेकर जो सर्वसहमति का भाव रहा है वह दलित मुद्दों को लेकर नहीं रहा

है। यही कारण है कि जहां हिंदी साहित्य में 'धर्मनिरपेक्षता' का विमर्श निरापद है वहीं हिंदू धर्म के वर्णाश्रमी जातिभेद को प्रश्नांकित करना शुरू से ही जोखिम भरा रहा है। प्रेमचंद को इसीलिए 'घृणा का प्रचारक' कहा गया, तो निराला को 'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत' होने का दंश झेलना पड़ा। बाबरी मस्जिद ध्वंस पर लिखित 'आखिरी कलाम' सरीखा उपन्यास हिंदी समाज में अगर अपेक्षित 'खड़मंडल' नहीं कर पाया तो इसका एक कारण धर्मनिरपेक्षता से आगे जाकर धर्म और ब्राह्मणवाद का इसके कथ्य में खुला प्रश्नांकन ही था।

मौजूदा दौर में हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में आंदोलनों की अनुपस्थिति का एक बड़ा कारण हिंदी समाज की जड़ों से इसका उस तरह न जुड़ा होना है जिस तरह तमिल तेलुगु, कन्नड़, मलयाली, मराठी और बांग्ला भाषा के साहित्य का उसके अपने समाज से है। आज हिंदी समाज की मुख्यधारा के बौद्धिकों द्वारा लेखन और विचार की न वैसी चुनौती दरपेश है और न वैसा जोखिम उठाना पड़ रहा है। आज अगर 'मुर्दहिया' और 'जूठन' सरीखी कृतियां वर्चस्वशाली ताकतों की नींद उड़ाती रहती हैं तो यह उनकी प्रतिरोधी विषय-वस्तु और सामर्थ्य का ही परिचायक है।

यहां यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य

है कि पहले हिंदी साहित्य के जिन मुद्दों को लेकर वैचारिक टकराहट थी और जो बहस-मुबाहिसों के प्रस्थान बिंदु थे, उन पर इन दिनों व्यावहारिक चुप्पी का भाव है। एक समय में कबीर और तुलसी को लेकर जो वैचारिक मुठभेड़ के संदर्भ थे, आज वे दृश्य ओझल हैं। कुछ विद्वान तो हाशिए के समाज के बीच कबीर की लोकप्रियता और तुलसी के प्रश्नांकन से इन दिनों इतने दुखी हैं कि अब वे विचार की परे रख कर सिर्फ 'कविताई' की कसौटी पर उनका मूल्यांकन करने के पक्षधर हैं। वे तुलसी के प्रतिगामी विचारों के आच्छादन के लिए कबीर में कुछ कमियां तलाश कर दोनों को समान धरातल पर प्रस्तुत कर देते हैं। साहित्य के रण में यह वैचारिक संदर्भविहीनता जहां आस्वादपरकता का नया स्वीकार है, वहां जनपक्षधर साहित्यिक मूल्यों और प्रतिरोधी चेतना का नकार भी। प्रेमचंद ने साहित्य की जिस कसौटी को बदला था, यह उसका प्रत्याख्यान भी है। यह यों ही नहीं है कि जहां एक और 'प्रेमचंद की परंपरा' को खारिज करने के प्रयास इस बीच तेज हुए, वही शताब्दी वर्ष में अज्ञेय के सर्वस्वीकार की मुहिम भी चलाई गई। यह सब वैचारिक प्रश्नों से मुक्त होकर ही किया जा सकता था। मुक्तिबोध शताब्दी वर्ष में मुक्तिबोध को उनकी वैचारिकी और 'पार्टनर तुम्हारी पॉलिटेक्स क्या है' सरीखी चिंता को भुला कर 'धूप, दीप नैवेद्य' की परंपरा में उनका

पत्रकारिता व्यापार नहीं है, विद्या है। इसलिए समाचार पत्र—उत्पाद होते हुए भी साधारण उत्पाद जैसा नहीं हो सकता। इसीलिए पत्रकार श्रमिक से ऊपर की श्रेणी में आता है, उसे बुद्धिजीवी कहा जाता है। उसके भरोसे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ खड़ा रहता है। जब तक उसकी कलम में सामाजिक उपयोगिता समाहित रहेगी वह पत्रकार बना रहेगा। जैसे ही इस कलम पर व्यवसाय का प्रभाव पड़ा, पत्रकारिता स्वतः ही समाप्त हो जाएगी, अतः पत्रकारिता स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। अतः पत्रकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी कलम को लक्षित करे। यह लक्ष्य उसके जीवन के मूल लक्ष्यों में समाहित होना चाहिए कि पत्रकार क्यों बना है? उसके मन में कौन—सी चिंगारी है, जिसने उसे पत्रकार बनाया है?

बिना चिंगारी के व्यक्ति पत्रकार नहीं बन सकता। यही चिंगारी उसे सक्रिय रखती है, उसका मार्गदर्शन करती है, व्यक्ति के आत्मसंतोष का आधार भी यही बनाती है। यही चिंगारी उसे संघर्ष करने की शक्ति भी प्रदान करती है, जिसके उपरांत वह जन कल्याण अथवा सामाजिक चेतना के अभियान चलाने के लिए नेतृत्व क्षमता का विकास कर पाता है। लोकतंत्र के सच्चे पहरी का दायित्व निभाने के लिए भी चिंगारी का होना आवश्यक है। इसके बिना अभिव्यक्ति की

# किसका खंभा, कैसा खंभा

• सुधीर हिलसायन

स्वतंत्रता का अर्थ भी उसके लिए अर्थहीन है। जिस कलमगार की कलम में समष्टि भाव नहीं है, समाज का दुःख—दर्द नहीं है, उसका समाज व राजसत्ता के प्रभाव नहीं हो सकता और वह सभी पाठकों को विश्वास भी प्राप्त नहीं कर सकता। सच तो यह है कि ऐसे में उसके लेखन की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। कलम की स्याही में जड़ता के खिलाफ जेहाद की ताकत होनी चाहिए। समाज के आखिरी पायदान पर संघर्ष कर रहे लोगों के साथ खड़ा होने का बूता पत्रकार व खबरपालिका का पहला काम होना चाहिए। पत्रकारिता को प्रोफेशन व मिशन के बीच समन्वय स्थापित करके सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ आगे आना चाहिए, और उसकी प्रतिबद्धता समाज के प्रति होनी चाहिए। उसे समाज की बेहतरी के लिए काम करना चाहिए। पत्रकारिता या पत्रकार से ऐसी उम्मीद की जाती है कि वह किसी एक धारा के साथ चलते हुए भी उसके प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखें, तभी वह खबरपालिका सचमुच में पत्रकारिता करती हुई प्रतीत होगी और माना जाएगा कि वह लोकतंत्र के चौथे खंभे होने का अपना फर्ज निभा रही है। पूर्वाग्रह व स्थिर मान्यताओं से युक्त पत्रकारिता वस्तुतः सामाजिक व राजनीति सत्ता का चौथा खंभा कहलाएगी। दरअसल,

स्वतंत्र भारत में होने वाली पत्रकारिता व खबरपालिका ने लोकतंत्र के चौथे खंभे होने की जिम्मेवारी का निर्वहन उस निष्ठा से नहीं किया, जिसकी उससे अपेक्षा थी। उससे जाने—अनजाने जनसत्ता के बजाय राजसत्ता व समाजसत्ता के साथ खड़ा होने का काम किया है। परिणामस्वरूप यह हुआ कि आजादी के 70 साल बाद तंत्र से आम—जन गायब है।

खबर पालिका सकारात्मक खबरों के बजाए नकारात्मक खबरों पर ज्यादा निर्भर हो गयी है। विकासात्मक व उपलब्धियों वाली खबरें उनके लिए ज्यादा मायने नहीं रखतीं। आज पत्र—पत्रिकाएं इस उद्देश्य से तैयार की जा रही हैं ताकि वह खून बिके। अखबार समूह के मालिकान अपनी प्रिंट लाईन में मेड इन डेल्ही लिखकर उसे प्रोडक्ट की तरह प्रस्तुत कर रहे हैं।

गांवों वाले इस कृषि प्रधान देश की उपलब्धियां या समस्याएं अखबरों के पहले पन्ने की खबर नहीं समझी जातीं, बल्कि उसे अंदर के पेज पर डाल दिया जाता है या सपांदक के कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है। इस देश का मूलनिवासी वंचित—जन समाज अपने लिए भी खबरपालिका

में वह जगह नहीं पा रहा है, जिसका वह हकदार है। दरअसल, मीडिया में एक खास वर्ग के लोगों का कब्जा है, जो कि नीति—निर्णायक व प्रबंधन में रहते हुए एक रणनीति के तहत दलितों—पिछड़ों व अल्पसंख्यकों को खबरची या अखबार नबीस के तौर पर आने नहीं देना चाहते। 1996 के एक आंकड़े के अनुसार 686 मान्यता प्राप्त पत्रकारों की एक सूची में भारत वर्ष में एक भी दलित पत्रकार नहीं था।

वंचितों को वर्ण—व्यवस्था वाले यथास्थितिवादी समाज की खबरपालिका से अपनी खबर की अपेक्षा करना ठीक नहीं होगा। ऐसे में वैकल्पिक पत्रकारिता की नितांत आवश्यकता है ताकि समाज में बहुसंख्यक समुदाय की आवाज को सत्ता के गलियारों में पहुंचाया जा सके व पत्रकारिता में वंचितों के नगण्य प्रतिनिधित्व को बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हो सके।

समतावादी भारत बहुआयामी मिशन के साथ अस्तित्व में आया है। इसके पन्ने ही इसके मंतव्य और गंतव्य को स्पष्ट कर पायेंगे। वंचितों में चेतना जगाने और उनके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने हेतु यह वंचितों—गैर वंचितों सभी के सहयोग की आकांक्षा रखता है। •

उत्सवीकरण, मुक्तिबोध के वृहत्तर साहित्यिक—सामाजिक सरोकारों का नकार ही है।

कहना न होगा कि सुखासीन अभिजन समाज साहित्य और संस्कृति को हमेशा बैठे ठाले का शगल बनाता रहा है। कभी—कभार वह जनतांत्रिकता और अर्थव्यक्ति की स्वतंत्रता के खोल में आंदोलनकारी होने का छद्म भी रचता है, लेकिन प्रथम अवसर पर ही विचारधारा को खारिज कर वह अपनी हस्तदंतमीनार की सुरक्षा में कैद हो जाता है। दरअसल, मुक्तिबोध जब 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने' की बात करते थे या जब प्रेमचंद 'साहित्य को समाज के आगे चलने वाली मशाल' कहते थे, तो उनका आशय साहित्य की वृहत्तर सामाजिक भूमिका से ही था। यह भूमिका आंदोलनधर्मी भी थी और परिवर्तनकार्मी भी। स्वाधीनता आंदोलन अगर इसका प्रस्थानबिंदु था, तो भारतीय समाज के अंतर्विरोध इसके नियामक।

आज बाजार का शोर और कॉरपोरेट संस्कृति का उत्सवीकरण साहित्य को उसके मूल वृहत्तर सरोकारों से विच्छिन्न कर किताब को 'बेस्टसेलर' और लेखक को 'सेलेब्रिटी' बनाने को उद्यत है। हिंदी साहित्य की इस सामाजिक विच्छिन्नता में ही समाहित हैं। इसकी आंदोलन विहीनता के सूत्र। सच तो यह है कि जो साहित्य अपने समाज के अंतर्विरोधों से संबोधित नहीं है, वह अपनी आंतरिक टकराहटों के बल पर न आंदोलनात्मक हो सकता है और न दीर्घजीवी। •

## पृष्ठ 1 का शेष... गोत्र, कुल और अल्ल

मूलतः कुर्मि ही थे। इसके पीछे एक लंबा इतिहास है। जादव जाति भी इसी वर्ग में आती है परंतु उसमें यह प्रथा लुप्त होती जा रही है।

3. तीसरे वर्ग के वे लोग हैं जिनमें न 'अल्ल' होते हैं न 'गोत्र'। उनमें परिवार, कुल या उपजातियां ही होती हैं और उन्हीं को ये गोत्र कहते हैं। यमुना के पश्चिम की अधिकतर दलित और दूसरी जातियों में ये गोत्र पाये जाते हैं जिनका सम्बन्ध आठवीं शताब्दी के पश्चात् मध्य एशिया से आने वाली जातियों से है या उन जातियों से है जो आर्यों के आगम काल में भारत के उत्तर पश्चिम के क्षेत्रों में बसती थी। दूसरी जातियों के कुल किसी न किसी रूप से अल्लों से संबंधित हैं। पहली जातियों में से वे भी जातियां हैं जिनके मुखियाओं का आर्यकरण करके उन्हें 'राजपूत' घोषित कर दिया गया था जिनमें एक घोषणा आबू पर्वत पर चार अग्नि कुलों की भी है।

'अल्ल' को अंग्रेजी में 'टोटम' कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे गण चिह्न भी कहा है। फ्रेजर, जिसने टोटम या अल्ल प्रथा पर गहन अध्ययन किया है, ने अल्ल या टोटम को एक मानव वर्ग का किसी पशु, पक्षी या पड़े-पौधों से निकट का सम्बन्ध बताया है। एक दूसरे विद्वान निग्मेयर टोटम की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि

एक मानव वर्ग जब किसी पशु, पेड़-पौधे, देवता या वस्तु से किसी सम्बन्ध से जुड़ जाता है, जिसके ऊपर उसका नाम होता है, ये पशु, पेड़ आदि अल्ल या टोटम कहे जाते हैं। इस प्रकार के एक नाम या उपाधि वाले लोग एक दूसरे से वैवाहिक संबन्ध नहीं जोड़ सकते—जैसे नीम, पीपल, मोर आदि परन्तु कुछ जातियों में यह प्रथा अब ढीली पड़ गई है। हिन्दी भाषा में 'टोटम' के लिए 'अल्ल' प्रयुक्त होता है, परन्तु यह शब्द बहुत कम सुना जाता है। दिल्ली के आसपास 'अल्ल' को 'देव' या 'देवता' भी कहा जाता है। अल्ल के बहुत से क्षेत्रीय पर्याय हैं जैसे बाला, देवक, बेंक, कीली, पारी, बर्ग, कुल कुली (कुरी) और देवल आदि परन्तु अधिकतर इनको गोत्र या वंश ही पुकारा जाता है। किसी समय अल्लों को गुप्त रखा जाता था। इसलिए यह प्रथा उपयोग के अभाव में ढीली पड़ती गई, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां जातिवाद का प्रभाव अधिक रहा है। किसी समय एक अल्ल के लोगों में बड़ा भाईचारा था और कबीलों में सर्वत्र बराबर के अधिकार थे। कोई छोटा-बड़ा नहीं था, जो वर्णाश्रम प्रथा ने नष्ट कर दिया और चारों ओर ऊंच-नीच, भेदभाव और छुआछूत का साम्राज्य स्थापित हो गया। छुआछूत, घृणा और शोषण की

देन है जो ब्राह्मणवाद की अलगाव और विभाजन की नीति ने उत्पन्न की। इसका मूल रूप रंगभेद की नीति थी जिसे आजकल 'अपरथेड' का नाम दिया गया है।

विद्वानों का मत है कि आर्यों में पहले गोत्र जैसी कोई प्रथा नहीं थी परन्तु अनार्य जातियां सामाजिक व्यवहार में बहुत उन्नत हो चुकी थीं। अनार्यों के प्रभाव के कारण ही आर्यों में आज जैसे गोत्र और बहुविवाह की प्रथा प्रचलित हुई। आर्य, सेमेटिक या अरब तौर मूरानी मानव परिवारों में टोटम या अल्ल की प्रथा नहीं होती। जो बरबर और पशुपालक जातियां मध्य एशिया से आईं उनमें भी अल्ल नहीं पाये जाते। उनमें उपजातियां होती हैं जो संघ या कुलों के ही विकृत रूप होते हैं। जातिवाद को बढ़ाने में इन जातियों का सबसे बड़ा हाथ है, क्योंकि ये जातियां अपने ही कबीलों में विवाह करती रही हैं। इन जातियों में अल्लों की मूल भावना नष्ट हो चुकी है। पुरातन काल में आर्यों में 'गण प्रथा' थी जिनका नाम माताओं के ऊपर होता था जिन्हें डोगे साहब ने 'गणगोत्र' कहा है। यह आर्यों के भारत में पर्दापण से पहले की बात है, उस समय आजकल जैसे गोत्रों की प्रथा नहीं थी और वैवाहिक नियम नहीं बने थे। यह

प्रथा महाभारत के काल तक पूर्णतया नष्ट हो गई थी।

पारसियों का पुरातन ग्रन्थ वेन्डिदाद इस बात का समर्थन करता है जिसमें लिखा है कि आर्यों के 16 देशों के नाम माताओं के नाम से जाने जाते हैं। पुराण कथाओं के अनुसार प्रजापति दक्ष की 60 लड़कियां थीं जिनके नाम पर गणों के नाम पाये जाते हैं जैसे दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य और दनु से दानव। ये वास्तव में असभ्य मानव गण थे जिनमें कोई वैवाहिक बंधन नहीं होते थे। भारत में पर्दापण करते-करते ये गण मातृकुलों से पितृ-कुलों में परिवर्तित होते गये। यहां तक कि दासराज्य युद्ध के समय तक मातृकुलों का नाम तक नहीं सुना गया। इसका एक बड़ा कारण यह था कि हिन्दुकुश को पार करते ही इन्हें शक्तिशाली अनार्य जातियों से कठिन संघर्ष करना पड़ा। प्रारंभ में एक गण के संगठित लोगों ने अनार्यों का पूर्ण विध्वंस करके अपने उपनिवेश स्थापित करने प्रारंभ किए। शहर नष्ट करके छोड़ दिए जाते थे और उनके बाहर छावनियां स्थापित कर ली जाती थीं। ये छावनियां ही 'गोत्र' या 'गोष्ठ' कही जाती थीं। पहले इन गण गोत्रों में अधर्व्यु पुरोहितों का एकछत्र साम्राज्य था परन्तु लगातार युद्धों के कारण

शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रियों को गणों का मुखिया चुना जाने लगा। इससे क्षत्रिय-ब्राह्मण वरीयता का संघर्ष प्रारंभ हुआ और क्षत्रीय राजा बन बैठे। इस प्रकार प्राथमिक गण राज्यों की समाप्ति हुई जिनमें भाईचारा और बराबरी का साम्राज्य था। उसी के पश्चात् वर्ण-विभाजन, दासता का प्रचार और आपसी लड़ाईयां प्रारंभ हुईं। पुरुष सुक्त में दासता के समर्थन के गीत हैं।

पुरातन काल में जब भी इन गणगोत्रों की संख्या में वृद्धि होती थी तो एक नया अधर्व्यु नेता त्रेताग्नि लेकर गण से बाहर निकल पड़ता था और उसके साथ गण के वे सभी सदस्य होते थे जो नया उपनिवेश बनाने की इच्छा रखते हों। उस गणगोत्र के सभी सदस्य अधर्व्यु पुरोहित के पुत्र समझे जाते थे और अधर्व्यु उस गोत्र का कुलपति समझा जाता था और गोत्र का नाम उसी के नाम से पुकारा जाता था। अधर्व्यु यज्ञ में अध्यक्षता भी करता था और युद्ध का निदेशन भी करता था। यह यज्ञ नये क्षेत्र में यज्ञाग्नि स्थापित करके उसमें आग लगा देने और अनार्य शत्रुओं को नष्ट कर देने का एक अभियान था जिसे सत्र या कृतु कहा जाता था। जनमेजय ने भी एक ऐसी ही यज्ञ करने का आयोजन किया था जिसमें शिकार पर जीवन व्यतीत करने वाले शान्ति प्रिय नागों का कत्लेआम करने का षडयंत्र था।

## संपादकीय का शेष.....इधर उधर की बात ना कर, यह बता कि कारवां कैसे लूटा?

हमारे विदेशी आक्रमणकारियों से समझौता करके समाज में अपनी सर्वोच्चता को कायम रहने का काम किया। उसी तरह उनकी देखा देखी क्षत्रिय, वैश्य वर्ण ने भी उन विदेशियों के साथ समझौता करके अपने 'अस्तित्व' को बचाये रखा। शूद्र वर्ण का तो अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व था ही नहीं, इसलिए उन्हें हिन्दू वर्णवादियों की सेवा के साथ-साथ हर नई हुकूमत की सेवा में जुड़ना पड़ा।

इस तरह से देश से भारी मात्रा में धन-दौलत लूट कर विदेशों में ले जाने और सैकड़ों सालों तक देश की गद्दी पर विदेशी शासकों को बैठाये रखने के लिए सीधे-मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था और जात-पात जिम्मेदार हैं, वहीं इस वर्ण व्यवस्था को हजारों सालों तक कायम रखने का दोष भी ब्राह्मण वर्ण के सिर पर है।

15 अगस्त, 1947 को अंग्रेजी हुकूमत से देश आजाद हुआ और इसकी बागडोर देशवासियों की हाथों में आई। उस समय सोचा गया था कि अब देश आगे बढ़ेगा और देश की धन दौलत देश के विकास के काम आयेगी। देश से गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अज्ञानता दूर होगी। समाज से वर्ण व्यवस्था, जात-पात, ऊंच-नीच की खाई खत्म होगी। लोगों को शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, न्याय सुगमता से उपलब्ध होगा। लोगों को रोटी, कपड़ा और मकान के लिए अब जूझना नहीं पड़ेगा। देश का

मजदूर, किसान, कश्तकार और दस्तकार खुशहाल होंगे, पर देश की आजादी के 70 साल बाद भी यह आशा भी पूरी होती दिखाई नहीं देती।

देश की आजादी के 70 सालों में से सर्वाधिक समय 55 साल कांग्रेस पार्टी की हुकूमत रही। इस दौरान पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत दलित, शोषित, उपेक्षित, किसान-मजदूर, बेरोजगार और गरीब शिक्षितों के लिए काफी लुभावनी योजनायें बनाई गईं, पर उन योजनाओं का अधिकतर लाभ उच्च वर्ण के लोगों, रजवाड़ों, सेठ, साहूकारों को हुआ और देश से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक विषमता हटाने की बातें हवा-हवाई दिखाई दीं। दलितों का नौकरियों व शिक्षण संस्थाओं में न आरक्षण पूरा हुआ और न ही उनके उत्थान के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में आवंटित कम्पोनेन्ट राशि कभी पूरी खर्च हुई। उल्टे कांग्रेसी शासन घोटालों के लिए ज्यादा चर्चित रहा।

सन 2014 के लोकसभा के आम चुनावों में नरेन्द्र मोदी ने कांग्रेस के इन घोटालों व भ्रष्टाचार के मुद्दों को मुख्य मुद्दा बनाया और जनता से भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के लिए खुलकर वोट मांगे और भारी बहुमत से जिताने की अपील की। उन्होंने अपने चुनावी भाषण में जनता से वायदा किया कि उनकी सरकार बनने पर वे भ्रष्टाचार को मिटा देंगे, घोटालों की जांच करेंगे और देश का काला धन विदेशों से

वापिस लाकर प्रत्येक नागरिक के खाते में 15-15 लाख रुपये डाल देंगे। वे देश का प्रधानमंत्री नहीं, प्रधानसेवक, प्रधान चौकीदार के रूप में काम करते हुए देश में प्रत्येक वर्ष 2 करोड़ लोगों को रोजगार देंगे। बेरोजगारी, भुखमरी, गरीबी दूर करेंगे। सभी को रोजी, रोटी, मकान की व्यवस्था करेंगे। शिक्षा, न्याय, चिकित्सा, सुरक्षा प्रदान करेंगे।

देश के लोगों ने उन पर विश्वास कर ताबड़तोड़ वोटों की बरसात कर उनकी भाजपा पार्टी को दो-तिहाई से भी ज्यादा लोकसभा सीट दीं और उन्हें 'प्रधानमंत्री' बनाया। उनके कार्यकाल में 4 साल बीत चुके हैं। उन्होंने जो चुनाव में वायदे किये थे उनमें से कोई वायदा पूरा हुआ नजर नहीं आता-न विदेश से देश का काला धन वापिस आया और न किसी देशवासी के खाते में 15 लाख रु. जमा हुए। उल्टे अब देश को यह देखने को मिल रहा है कि उनके प्रधानमंत्री रहते हुए पहले ललित मोदी और विजय माल्या देश का हजारों करोड़ रुपये लेकर देश से विदेश भाग गये। और अब हीरा व्यापारी नीरव मोदी और उनके मामा मेहुल चौकसी पंजाब नेशनल बैंक और उसके अन्य सहयोगी बैंकों से 20 हजार करोड़ रुपये लूटकर विदेश भाग गये। बैंक अधिकारी और ललित मोदी की मिलीभगत का अन्देश मोदी जी की सरकार को पहले से था, पर फिर भी उनकी सरकार के भ्रष्ट

अधिकारियों की सहायता से वह पूरे परिवार के साथ विदेश उड़ गये। अब ईडी, डीआईआर, आयकर व सीबीआई उसके ठिकानों पर छापे मार रही है, पर वह तो जालसाजी करके पहले ही देश से लूटे माल के साथ विदेश जाकर मौजमस्ती कर रहा है।

कांग्रेस पार्टी अब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी से पूछ रही है कि हजारों करोड़ों रुपयों का यह घोटाला कैसे हुआ और उन्हें देश से विदेश भगाने में कौन-कौन लोग शामिल हैं। सरकार को जब पता था कि वह बैंकों को चूना लगाकर विदेश भागने वाला है तो उसको रोकने में सतर्कता क्यों नहीं बरती? देश का चौकीदार प्रधानमंत्री सोते रहा और उनके चोर नीरव मोदी और मेहुल चौकसी देश का धन लूटकर विदेश भाग गये। पहले ललित मोदी व विजय माल्या हजारों करोड़ रुपये भारत के मारकर विदेश में मौज मार रहे हैं अब उनके साथ नीरव मोदी का नाम और जुड़ गया, जिसने साफ कह दिया है कि वह एक रुपया भी वापिस नहीं करेगा। सवाल यह है कि आजादी से पहले विदेशी हुकमरान देश का धन लूट कर विदेश ले जाते थे पर अब तो अपने ही धन्नासेठ, उद्योगपति देश का धन लूट कर ले जा रहे हैं और हमारी सरकार मूक बनी देख रही है। इसलिए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी से देश के लोग पूछ रहे हैं-इधर उधर की बात न कर, यह बता कि कारवां कैसे लूटा? •

ये नाग तक्ष या तक्षत वंश से संबंधित थे जिनके संबंधी देत तक तुर्किस्तान में रहते आये थे जिनमें से कुछ कालान्तर में फिर से भारत में आ बसने के पश्चात् राजपूत कुलों में सम्मिलित हो गये। जब एक गण-गोत्र युद्ध के लिए अपना नेता चुनता था तो वह ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति या गणपति बन जाता था क्योंकि गणगोत्र ही ब्राह्मण 'ब्रह्मन्' था। यह एक उपाधि थी जो कालान्तर में देवता बन गई।

कुछ समय पश्चात् युद्ध में हारे हुए बन्दियों को नष्ट न करके उनको 'दास' बना लेने की प्रथा चली। 'दास' वह पहली जाति थी जो युद्ध में पराजित हुई और उसके पश्चात् जो भी आर्यों का सामना करता या हार जाता तो उसे भी घृणा से 'दास' पुकारा जाने लगा और इस प्रकार 'दास' शब्द गुलाम अथवा पराजित का पर्याय बन गया। उसके कुछ दिनों बाद यह दास प्रथा भी बंद हो गई। विजित या हारे हुए कबीलों या जातियों को ज्यों का त्यों अपने प्राचीन क्षेत्रों में बसे रहने दिया गया परंतु उनको सभी नागरिक अधिकारों से वंचित करके उनसे परंपरागत बंधुआ मजदूरों की तरह काम लिया गया। ये ही कबीले आज की परिगणित जातियां हैं जो चालीस से अधिक मानवीय आंधियों के बावजूद भी वहीं की वहीं हैं जहां वे वैदिक काल या उससे पहले रहती थीं। ये प्राकृतिक मिट्टी की तह की तरह जातिवाद की सबसे नीचे की सतह पर हैं जबकि इन आंधियों के रेत के टीले सारे क्षेत्र में फैले हैं। •

स्वामी, सम्पादक/ प्रकाशक एवं मुद्रक डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर द्वारा वन्दना आफसेट प्रिन्टर्स, A-9 सराय पीपलथला एक्सप्रेस, दिल्ली-33 में मुद्रित तथा

233 टैगोर पार्क, माडल टाउन, दिल्ली-9 से प्रकाशित। □ सह सम्पादक - श्रीमती त्रिलोचन सुमनाक्षर □ व्यवस्थापक : जय सुमनाक्षर, फोन : 27421449, मो. 9810278936 Email-sumanakshar@ymail.com  
नोट : हिमायती में प्रकाशित रचनाओं के लिए सम्पादक की सहमति जरूरी नहीं। हिमायती से सम्बन्धित किसी भी कानूनी कार्रवाई का क्षेत्र दिल्ली न्यायालय तक ही सीमित है।